वेदों में आर्थिक उत्पादन के संसाधन

*डॉ. छगनलाल महोलिया

प्रस्तावना –

कृषि एवं पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे और उद्योगों का कुटीर आधार पर संचालन होता था। इसी कारण वैदिक भारत में पूंजी का महत्व उत्पादन के साधन के रूप में अपेक्षाकृत नगण्य रहा है। यह इस बात से स्पष्ट है कि भूमि की महत्ता और प्रशंसा के बारे में तथा जनसंख्या एवं मानव–श्रम के महत्व के संबंध में हम विस्तृत विचार वेदों में प्राप्त होते हैं पर पूंजी के सम्बन्ध में ऐसे विवरण नहीं मिलते। वैसे तो भूमि की महत्ता पृथ्वी की माँ के रूप में उपासना से अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है, पर उपासना से सम्बन्धित सूक्तों में यह भी स्पष्ट होता हे कि भूमि को ऐश्वर्य–प्रदायिनी शक्ति, एवं उत्पादन के साधन के रूप में भी देखा जाता था। अथर्ववेद के मातृभूमि सूक्त के अन्तर्गत कहा गया है कि ''जिस मातृभूमि में उद्यमशील तथा शिल्पचातुरी में निपुण निजी परिश्रम से खेती करने वाले हुए हैं, जिस भूमि में चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ चावल गेहूं आदि उपजाती हैं। जो अनेक प्रकार से, प्राणधारण करने वालों और चलने–फिरने वालों का धारण–पोषण करती है, वह हमारी मातृभूमि हम सबों का गौएँ और अन्नादि प्रदान कर धारण–पोषण करें।''[1] स्पष्ट है कि यहां पर भूमि की उपासना उसकी उपयोगिता के आधार पर की गयी है।

वैदिक साहित्य में श्रम को समुचित स्थान प्राप्त है। मनुष्य उद्योग करे, परिश्रम करे, अकर्मण्य न रहे, तभी समृद्ध हो सकता है। ''जागते रहना, उद्यम एवं पुरुषार्थ समृद्धि के लक्षण हैं और आलस्य में सोये रहना दरिद्रता का लक्षण[2] है।'' ''हे देव, हमें व्यर्थ की वार्ता, आलस्य एवं निद्रा से बचाओ।''[3]

''ईश्वर उनकी सहायता करता है जो आलस्य का त्याग करते[4] हैं'' ''ईश्वर उसका मित्र है जो श्रम करता[5] है'' या ''श्रम से ही विजय प्राप्त होती है।''[6] आदि कथन इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि श्रम की महत्ता कर्मों की सफलता हेतु सर्वोपरि है और आलस्य एवं प्रमाद पापतुल्य माने गए हैं। श्रम की महत्ता तथा सम्मान के सम्बन्ध में हमें अन्य उदाहरण सेवकों के साथ किये जाने वाले व्यवहार के संदर्भ में मिलते हैं। वैदिक युग में सेवक परिवार का ही सदस्य माना जाता था। गृहपति से पहले भोजन करने की प्रथा[7] इसका स्पष्ट प्रमाण है। स्वामी और सेवक के भोजन पदार्थों में कोई भेद नहीं था।[8] इस प्रकार श्रमिक और सेवक को आज की भांति हेय या उपेक्षित नहीं माना जाता था बल्कि वेदों के मतानुसार वे समाज के एक आवश्यक एवं सम्मानित अंग हैं।

उत्पादन संगठन –

उत्पादन–कार्य करने के लिए वैदिक काल में कोई भी प्रणाली प्रचलित हो, पर इतना निर्विवाद सत्य है कि वेदों में मिल–जुलकर सहकार के आधार पर कार्य करने की विधि को अत्युत्तम माना गया है। अथर्ववेद में संगठनात्मक समितियों में मेल–जोल के आधार पर कार्य करने को सफलता का सूत्र बताया गया[9] है। इसी प्रकार ऋग्वेद में बताया गया है कि मिलकर काम करने से, मिलकर खाने से तेज और समृद्धि की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं[10]। जिस प्रकार से सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवी शक्तियाँ अनन्त काल से परस्पर विरोध रहित अपने–अपने कर्त्तव्यों में संलग्न हैं, उसी प्रकार मनुष्यों को भी उनके उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। साथ ही इस बात पर बल दिया गया है कि प्रत्येक कार्य को संगठित होकर एकमत के आधार पर किया जाय।

अथर्ववेद में सहयोग और सहकार के सिद्धान्त का उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में पालन करने का स्पष्ट उपदेश है। ''एक साथ धन लगाकर एक साथ श्रम कर जो कुछ भी लाभ हो सका सभी में समान भाव से वितरण हो। अन्न व जल का समान भागों में वितरण हो। सभी लोग एक ही बन्धन (नियमों) में बंधकर कार्य करें[11]।'' इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदों के ऋषियों के विचार में सहकारी संगठन ही उत्पादन संगठन का सर्वोत्तम रूप रहा है।

विभिन्न वर्ण के लोगों के बीच जो भेद की परम्परा भारतीय समाज में मिलती है, वह किसी प्रकार से भी वैदिक विचारों का परिणाम नहीं है। वेदों के अध्ययन के संबंध में यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के लिए तो श्रव्य है ही साथ ही विधर्मी एवं विदेशी व्यक्ति भी इनका पूरा उपयोग कर सकते हैं।[12] इसी प्रकार इस बात के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि विभिन्न वर्ण के लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे अपने पितरों के व्यवसाय को ही अपनाएं। हर युवा व्यक्ति को अपने लिए उचित व्यवसाय चुनने का अधिकार था, इसमें वंशगत व्यवसाय या वर्ण कोई बाधा नहीं प्रस्तुत करते थे। ऋग्वेद में उपासक कहता है, मैं कवि हूं। मेरी कन्या पत्थर की चक्की चलाने वाली है। धन की कामना करने वाले नाना कर्मों वाले हम, गांवों की तरह, एक गोष्ठ में रहते हैं।[13]

विनिमय एवं वितरण

वैदिक साहित्य में किसी सामान्य द्रव्य का उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह पता चलता है कि अधिकतर व्यापार वस्तु–विनिमय के आधार पर होता था। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि यदि मूल्य के मापदण्ड के रूप में यदि किसी वस्तु का उपयोग होता था तो वह थे पशु और उनमें भी मुख्यतः गाय। इसी प्रकार मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। विनिमय की कुछ मान्यताएं थीं, जिनका पालन करना हर विनिमयकर्ता के लिए आवश्यक था। अथर्ववेद में शौनक मुनि ने व्यापारी के लिए उपयुक्त इन्द्र की प्रार्थना लिखी है, जिसमें व्यापारी कहता है, ''हे इन्द्र तुम हमारे मार्गदर्शक वणिक् बनो। मूल्य न देने वाले से हमें बचाओ, प्रतिस्पर्धी से मुझे बचाओ, मुझे धन प्रदान करो। पृथ्वी एवं स्वर्ग के बीच के देव–मार्ग दुग्ध और घी से युक्त होकर मेरा स्वागत करें ताकि मैं अपने भविष्य के माध्यम द्वारा अधिकतम धन प्राप्त कर सकूं। हे देवो, मेरी पूंजी में वृद्धि होती चली जावे, कभी कभी न आवे। हे अग्नि, उन लोगों को नष्ट करो जो मेरे लाभ को नष्ट करना चाहे।[14] स्पष्ट है कि वाणिज्य लाभ कमाने के लिए ही किया जाता था और वैदिक ऋषियों को ज्ञात था कि स्पर्धा की स्थिति में लाभ कम हो जावेगा और व्यापार में पूंजी की हानि होना बहुत बड़ी हानि है। परन्तु लाभ कमाने के लिए भी नियम हैं और इन नैतिक नियमों का उल्लंघन करते हुए लाभ कमाना अनुचित है। मूल्य प्राप्त करने के बाद व्यापारी को आवश्यक रूप से वस्तु की पूर्ण मात्रा एवं उचित गुण में प्रदान करना आवश्यक है।[15] व्यापारी प्रतिज्ञा करता है कि ''इस वस्तु को मैं तुम्हें मूल्य लेकर दे रहा हूं। इसीलिए इसको पूर्ण करके, भरकर, पुनः पूर्ण करके दे रहा हूं।'' इससे व्यवसाय जगत् की सत्यता, अलोलुपता का पता चलता है।

वितरण के क्षेत्र में वैदिक साहित्य में अर्थशास्त्रीय, मजदूरी, लगान, ब्याज अथवा लाभ के सिद्धान्तों की खोज करना शायद ही उपयोगी सिद्ध होगा। लेकिन धन के समान वितरण की वांछनीयता के सम्बन्ध में वेदों में स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि जिन लोगों ने अपने धन को निर्धन जीवों में वितरण किया, वे अपने पुण्य और यश के प्रभाव से सदैव जीवित है। आकाश में प्रकाशित है।[16]

अपने पास धन होते हुए भी निर्धनों की याचना पर ध्यान न देना बड़ा ही अमानुषिक समझा गया है। ऋग्वेद में ऐसे बहुत से मन्त्र हैं जिनमें जरूरतमंद लोगों को अन्न और धन प्रदान करने की वांछनीयता पर जोर दिया गया[17] है। इस प्रकार वेदों में धन के समान वितरण और आर्थिक समानता को बार–बार वांछनीय बताया गया है।[18]

उपसंहार –

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक समस्या का आधुनिक अर्थ में, अपेक्षाकृत अभाव होते हुए भी वैदिक आर्य अर्थव्यवस्था के संचालन तथा आर्थिक–व्यवहार के नियमों से अनभिज्ञ नहीं थे। ऋषियों द्वारा जो मानव व्यवहार के विभिन्न पहलुओं के संबंध में उपदेशादि दिए हैं, उन्हीं में हमें आर्थिक व्यवहार के नियमों की झांकी भी मिलती है। वैदिक काल की आर्थिक विचारधारा को न तो नैतिक एवं आध्यात्मिक दर्शन से भिन्न किया जा सकता है और न ही वैदिक विचारकों को किसी आर्थिक–सम्प्रदाय विशेष की ही संज्ञा दी जा सकती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन स्फुट आर्थिक विचारों में व्यक्ति की अपेक्षा समाज, व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों पर अधिक बल दिया गया है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में द्वन्द्व की स्थितियों की संभावना को माना गया है और ऐसी स्थितियों में औषधि के रूप में न तो ''पूर्ण स्पर्धा'' और 'आर्थिक स्वतंत्रता'' का आधार लिया गया है, और न ही राजकीय हस्तक्षेप का आह्वान किया गया है, बल्कि नैतिक नियमों द्वारा व्यक्ति के ऐसे व्यवहार को नियंत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सामाजिक हितों के विरूद्ध हो। आर्थिक विचारधारा इस प्रकार किसी ''वाद'' या ''सम्प्रदाय'' के अन्तर्गत नहीं आती। यह एक समयोचित विचारधारा थी और घटना–विशेष के संदर्भ में एक विशिष्ट हल को ढूंढने का उपदेश देती थी।

निष्कर्ष –

वैदिक विचारधारा में निहित कुछ महत्वपूर्ण आर्थिक धारणाओं का यहां पर उल्लेख किया जा सकता है। सर्वप्रथम यह कहना त्रुटिपूर्ण न होगा कि वैदिक विचारधारा के अनुसार धनोपार्जन मनुष्य का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है परन्तु इसे उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य समझना पूर्णरूपेण असंगत होगा। निर्धन होना अभिशाप है परन्तु अधिकाधिक धनोपार्जन करके विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करना भी अनुकरणीय व्यवहार नहीं है। दूसरे, धन तथा धन–प्राप्ति के साधनों में प्रकृति का सर्वोपरि स्थान है। भूमि व पशु न केवल उत्पादन के साधन है परन्तु धन के प्रमुख रूप भी हैं। श्रम की महत्ता का उल्लेख अवश्य मिलता है। अपने श्रम के उपयोग से जीविका तथा धन का उपार्जन कर आत्मसम्मान एवं आत्मनिर्भरता की रक्षा करने पर बल दिया गया है। तीसरे, संगठन व सहकार को आर्थिक संचालन का समुचित आधार माना गया है, प्रतिस्पर्धा की नहीं। अन्त में, सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक व्यवहार को सामाजिक व्यवहार का एक अंग माना गया है, इसलिए आर्थिक कार्यों का सम्पादन समाज के नैतिक विधान के अनुसार ही करना आवश्यक है। आर्थिक तथा नैतिक धारणाओं के द्वन्द्व की स्थिति में आर्थिक लाभ या स्वार्थ का नैतिक सिद्धान्तों के हित में परित्याग अपेक्षित है।

***व्याख्याता**
संस्कृत विभाग
राजकीय महाविद्यालय, गुडामालानी (बाड़मेर)

संदर्भ –

1. यस्याश्चतस्र प्रदिशः पृथिव्या यस्मान्नं कृष्टयः संबभूवुः।
   या विर्भीत बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिगोवक्ष्यशे दधातु।। (अथर्व. 12–1–4)
2. भूत्यै जागरणं अभूत्यै स्वपनं। (यजु. 30–17)
3. त्रतारो देवा अधि वोचता नो मानो निद्रा ईशत मोतजाल्पे। (ऋग्वेद 8–48–14)
4. इच्छति देवा सुन्वन्तं न रचप्राय स्पृहयति। (ऋग्वेद 8–2–18)

5. न कृते आन्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ. 4–33–11)
6. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सख्य आहित। (अथर्व. 7–52–8)
7. स्वेसु मृत्येसु चैवाहि।
8. अधं स केवलं भुक्ते ये पचत्यात्मकारणम्।
9. ज्यायश्वन्तश्चित्तिनोमावियोष्ट संराघयन्त सघुराश्चरन्तः।
   न्यन्योन्यस्मै वल्गवदन्तोयात समागास्थ सधीचीनान्।। (अथर्व. 5–19–5)
10. सह नानववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य करवावहै।
    तेजस्विनविधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
    संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जायताम्।
    देवाभागं यथा पूर्वे संसृजानामुपासते।। (ऋ. 10–191–12)
11. समानीप्रपा सहवो अन्नभागः समानेमोषधे सहवोयुनज्मि।
    सम्यजोग्निं सपर्यतारां नामिमवाकृता।। (अथर्व. 5–19–6)
12. यजेमा वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः
    व्रत्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च (यजु. 26.2)
13. ऋग्वेद 9.1 13.3
14. अथर्ववेद (3.8.1, 2, 5)
15. ऊँ पूर्णदर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत।
    वस्नेव विक्रिणावहा इस मूर्ज।। (यजु. 3.49)
16. त आजयन्त द्रविणं समस्या,
    ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
    असूर्ते सूर्ते रजसि निषते।
    ये मुतानि समकृण्वमिमानि। (यजु. 17–28)
17. ऋग्वेद (10.48.117)
18. समानी प्रपा सह वो अन्न भागः समाने मोषधे सहवो युनज्मि।
    सम्यजो ग्निं–सपर्यतारा नामिमिवामितः (अथर्व. 3–30–6)
    ये समानाः समनसौ जीवा जीवेसु मामका।
    येषां श्रीममि कल्पतांस्मिल्लोके शतं समा (यजु. 29–46) तथा ऋग्वेद 10–193–3, 4, अथर्व. 3–30–1 आदि।